CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2.5

चैतन्य-चिन्तन

[बारह भावनाओं का सामाजिक स्वरूप]

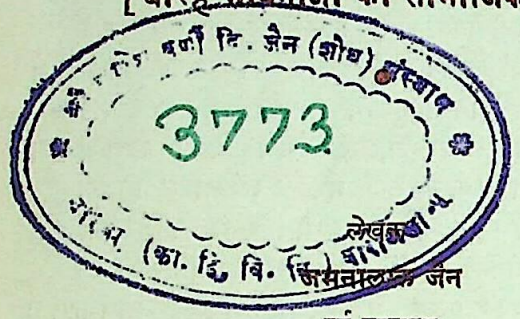

जसमाल्ल जैन

पूर्व सम्पादक

जैन जगत, वीर, जैन-सन्देश, श्री अमर भारती, श्रमण

सम्पादक : समन्वय-वाणी

प्रकाशक

शुचिता प्रकाशन

अभय कुटीर, सारनाथ (वाराणसी, उ० प्र०)

श्री वीर-निर्वाण-दिवस २२ अक्टूबर १९८७

मूल्य: एक रुपया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बारह-भावना

[कविवर भूधरदास]

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार ॥ १ ॥
दल-बल देवी-देवता, मात-पिता परिवार ।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार ॥ २ ॥
दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान ।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥ ३ ॥
आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय ।
यों कबहूँ इस जीव का, साथी-सगा न कोय ॥ ४ ॥
जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय ।
घर-संपति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय ॥ ५ ॥
दिपै चाम-चादर मढ़ी, हाड़-पींजरा देह ।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन-गेह ॥ ६ ॥
मोह-नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा ।
कर्म-चोर चहुँ ओर, सरबस लूटैं सुधि नहीं ॥ ७ ॥
सद्गुरु देय जगाय, मोह-नींद जब उपशमै ।
तब कछु बनहिं उपाय, कर्म-चोर आवत रुकै ॥ ८ ॥
ज्ञान-दीप तप-तैल भर, घर शोधै भ्रम छोर ।
या विधि बिन निकसै नहीं, बैठे पूरब चोर ॥ ९ ॥
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच परकार ।
प्रबल पंच इन्द्रिय-विजय, धार निर्जरा सार ॥१०॥
चौदह राजु उतुंग नभ, लोक-पुरुष संठान ।
तामैं जीव अनादि तैं, भरमत हैं बिन ज्ञान ॥११॥
धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहिं सुलभ कर जान ।
दुरलभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान ॥१२॥
जाचैं सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता-रैन ।
बिन जाचैं बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह विराग-विभूति

जैन-धर्म में बारह भावनाओं को बारह अनुप्रेक्षाएँ कहा गया है। प्रेक्षा यानी देखना। बार-बार देखना, पीछे मुड़कर देखना, समग्र जीवन को गहराई से देखना, यथार्थता को स्पर्श करना और अनुभव करना ही अनुप्रेक्षा है। जीवन और जगत् की यथार्थ स्थिति का गहन चिन्तन मनुष्य को—चिन्तक को वहाँ पहुँचा देता है, जहाँ संसार की बाह्य-लीला निःसार बन जाती है और आत्म-शुद्धि उसका लक्ष्य बन जाता है। वह सारे लीला-व्यापार को, देह-व्यापार तक को द्रष्टा बनकर देखने लगता है।

इन भावनाओं को वैराग्य की जननी कहा गया है। जैसे माँ की गोद में शिशु पोषण पाता है, शक्ति पाता है, और सुरक्षित रहता है, परिपूर्ण प्यार पाता है, वैसे ही चित्त-शुद्धि, आत्म-शुद्धि की दिशा में आगे बढ़ने और लक्ष्य तक पहुँचने में ये भावनाएँ सहायक हैं।

बारह की संख्या तो सांकेतिक है। प्रत्येक भावना का मूल स्वर यह है कि मनुष्य देह, इन्द्रिय तथा मन से तथा बाह्य संबंधों तथा परिग्रह आदि से ऊपर उठकर संसार में अनासक्त, मोह-रहित तथा निरपेक्ष बनकर रहे। ये भावनाएँ अपने में एक ऐसा अनुभव है, जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अनुभव शब्दातीत होता है। वह तो रस का निर्मल निर्झर है। महाकवि बनारसीदास कहते हैं—

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को, अनुभव मोख सरूप॥

इन भावनाओं को विगत दो हजार वर्षों में भगवत् कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय से लेकर अनेक मनीषी आचार्यों तथा कविपुंगवों ने अभिव्यक्ति दी है। कविवर भूधरदासजी (१८वीं शताब्दी) ने भी अपने 'पार्श्वपुराण'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में इन भावनाओं का चित्रण किया है। सम्प्रति यही बारह भावना समाज में सर्वाधिक प्रचलित हैं। दोहा जैसे छोटे-से छन्द में, सरल-सुबोध शब्दों में कवि ने इनका स्वरूप-दर्शन कराया है। छोटे-छोटे बालक और किशोर भी इस रचना का नित्य पाठ करते हैं। भाव-बोध में इन १३ दोहों का बड़ा योगदान रहा है। प्रायः जैन-मन्दिरों की भित्तियों पर भी ये दोहे लिखे जाते हैं। इनका चित्रांकन भी किया जाता है। इतना सरस, मर्मस्पर्शी एवं बोधपरक शब्दांकन अनुभव-रस में डूबा कवि ही कर सकता है।

ज्ञान-विज्ञान में दुनिया आगे बढ़ी है, अनेक सीमाएँ टूटी हैं, एकांगिता एवं संकीर्णता के बन्धन ढीले हुए हैं। मानवीय मूल्यों में अद्भुत परिवर्तन हुए हैं। ऐसे अनुकूल वातावरण में हमारी सात्त्विक एवं प्रेरक परम्पराएँ भी व्यापक अर्थवत्ता एवं विराट सन्दर्भ के लिए राह देख रही हैं।

आज अध्यात्म और विज्ञान का मेल अनिवार्य हो गया है। हमारे अध्यात्ममूलक चिन्तन को विज्ञानाभिमुख होना होगा और विज्ञान हमारे जीवन को अध्यात्म-परायण बनायेगा। सांसारिक सम्बन्धों तथा शरीर-धर्म को मिथ्या, मोह और आत्म-विकास में बाधक मानने से काम नहीं चलेगा। मनुष्य संसार-परिवार आदि सम्बन्धों से अलग-थलग रहकर अपना विकास नहीं कर सकता। शरीर को, आसपास के वातावरण को, अपने सम्बन्धों को मधुर बनाकर ही हम आत्म-विकास कर सकते हैं। यह तन भी आत्मा का, परमात्मा का, ज्ञान का मन्दिर है। इसको स्वच्छ, निर्मल, पवित्र तथा आदरणीय रखकर ही आत्मोपलब्धि संभव है। मैंने इसी दृष्टि से अपने विचार संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रयास सांकेतिक है, स्पर्शमात्र है।

मनुष्य के बोध की, अनुभव की और अभिव्यक्ति की एक मर्यादा है, साधनों की भी। सीमातीत को सीमा में कैसे बाँधा जाय!

—लेखक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार ॥

अनित्य यानी अस्थिर, चंचल, क्षणिक, परिवर्तनशील, विनाशी। संसार की हर वस्तु, हर नाता-रिश्ता, हमारा शरीर, आयु, रूप-लावण्य, वैभव परिग्रह, सत्ता-अधिकार सब-कुछ एक-न-एक दिन जानेवाला है। जन्म के साथ मरण, यौवन के साथ बुढ़ापा, सुख के साथ दुःख, लक्ष्मी के साथ दारिद्रय लगा हुआ है। कोई अपने को कितना ही बचाने का प्रयास करे, विनाश से, क्षीणता से बच नहीं सकता। सबको एक दिन अवश्य जाना है।

आश्चर्य की बात यह है कि विनाश की अनिवार्यता को प्रतिक्षण अनुभव करते हुए भी मनुष्य निरन्तर इस तरह सामान जुटाता रहता है मानो वह अमर है और सामान भी अमर है! सामान की बात तो एक ओर, हमारे विचार भी, हमारी परम्पराएँ भी नित्य बदलती रहती हैं। कोई नहीं कह सकता कि वह वही है जो कि कल था। कौन जाने क्षणभर बाद क्या होगा, अतः इस **अनित्य भावना** द्वारा चेतावनी दी गयी है कि सदैव सजग रहो। प्रमाद में न उतरो और धोखे में न रहो। मौत से मुँह न फेरो, उससे कतराओ मत। वह सिर पर खड़ी ही है। उसके लिए सतत तैयार रहो।

मृत्यु का स्वागत करने के लिए तत्पर महात्मा पुरुष मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। मृत्यु उन पर अपना जाल नहीं फैलाती। संसार की वस्तुएँ अपनी जगह हैं, लेकिन जब मनुष्य उनका गुलाम हो जाता है, तब दुःख के भँवर में डूब जाता है। मरण तो अवश्यंभावी है, पर उसके कारण दुःखी, चिन्तित और परेशान वही लोग रहते हैं जो मोहग्रस्त हैं, आसक्तिग्रस्त हैं। नदी के प्रवाह की भाँति निरन्तर कर्मरत मनुष्य मृत्यु का वरण सहज ही करता है। अपने को वस्तुओं से ऊपर रखो तो नित्य शुद्ध चैतन्य का दर्शन होता है। सांसारिक अनित्यता का अहसास मनुष्य में प्रतिक्षण नूतनता का, नवसर्जन का पुरुषार्थ जगाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. अशरण भावना

दल-बल देवी-देवता, मात-पिता-परिवार।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार॥

अशरण अर्थात् असुरक्षा, असहायता, निरीहता। मनुष्य समझता है कि उसका ज्ञान, उसकी विद्याएँ, उसका वैभव, उसका परिवार, उसके नौकर-चाकर, उसका बल, उसकी प्रतिष्ठा ये सब उसके रक्षक-पोषक हैं। इसीलिए वह इन चीजों के प्रति मोहित होता है, इनका संचय करता है और इन पर गर्व भी करता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि अन्तिम समय आने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। आज तक कोई किसी को नहीं बचा सका। कोई कितना ही जाप करे, मंत्रपाठ करे, औषधि सेवन करे, कायाकल्प करे। जो मरणधर्मा है, वह बच नहीं सकता।

अशरण-भावना मनुष्य को आन्तरिक वैभव एवं शक्ति का दर्शन कराती है। कोई भी बाह्य साधन या उपचार रक्षक नहीं है। आत्मा ही आत्मा की रक्षक है। इस वास्तविकता को समझकर ही मनुष्य को जीवन-संग्राम में उतरना चाहिए और बाह्य साधनों के धोखे से बचना चाहिए।

सहारे में सुविधा दीखती है। मनुष्य समझता है कि वह अकेला इस विराट विश्व में कुछ नहीं कर सकता। सहारा हो तो उसे बल महसूस होता है। लेकिन सहारा लंगड़ेपन का लक्षण है, परावलम्बन का चिह्न है। डूबते के लिए तिनका भी बड़ा सहारा प्रतीत होता है—लेकिन तिनका बचा नहीं सकता। सहारा तो अपनी कमजोरी का एक बहाना है, कवच है। अतीत का वैभव और भविष्य की आशाएँ भी मनुष्य की रक्षा नहीं कर सकतीं। अपने को अशरण वही मानता है जो वर्तमान में जीता है। शरण माँगना और शरण देना दोनों प्रमाद में ले जाते हैं। अशरण भावना हमें भगवान् की शरण में जाने से भी इसलिए रोकती है कि शरण अपने में माया है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छलावा है। प्रति पल अपने को अशरण अनुभव करो तो गति ऊपर को होगी, उसमें तेजस्विता आयेगी। तब न कोई दानी होगा न कोई दीन। अशरणता का मूल अर्थ है स्वावलंबन। अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता ही मुख्य तत्त्व है। यह उपलब्धि आत्म-जागृति से होती है। मनुष्य का शरणस्थल मूलतः धर्म और सदाचार ही है। ●

३. संसार भावना

दाम बिना निरधन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

संसार का अर्थ है संसरण करना, भटकना। यह जीव चिर-काल से विविध योनियों और गतियों में भ्रमण कर रहा है। समझता तो यह है कि वह सुख-शान्ति के लिए भाग-दौड़ करता है, किन्तु परिणाम में उसे विकलता और असन्तोष ही मिलता है। योनियों और गतियों की या पुनर्भव की बात तो बहुत दूर की है। योनियों और गतियों को जानने-देखने के साधन भी हमारे पास नहीं हैं। हाँ, हम अपने जीवन-चक्र को अवश्य जानते-समझते हैं। प्रत्येक मनुष्य का अनुभव है कि वह प्रतिदिन, प्रतिक्षण, निरन्तर ही संसारचक्र में घूम रहा है। निर्धन को धनी होने की चिन्ता सताती है। धनी को तृष्णारूपी नागिन डसती रहती है। रूप, यौवन, बल, बुद्धि, विद्या, प्रतिष्ठा, यश, अधिकार आदि ऐसे प्रबल आकर्षण हैं कि मनुष्य इनके लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा देता है। अपने में इनका अभाव और दूसरों में सद्भाव देखकर वह जल-भुन जाता है। एक क्षण की तृप्ति के पीछे वर्षों की कमाई स्वाहा हो जाती है। इसीलिए कहा है कि सारा जगत् छान कर, निचोड़ कर देख लिया कि इसमें कहीं सुख नहीं है। वस्तुतः सुख तो आत्म-स्थिति में ही है, जिसकी ओर मनुष्य का ध्यान नहीं जाता।

हम अनादि काल से संसार के विराट् प्रवाह में बह रहे हैं। कहीं कूल-किनारा नहीं दीखता। कहीं दीखने जैसा आभास होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, पर वह तत्काल छूट जाता है। छल-कपट, माया-दम्भ, लाभ-लोभ के अनेक भंवरों के खतरों के बीच हमारी नाव चली चल रही है। एक आशा-इच्छा पूरी होती, है तो तत्काल दूसरी अनेक आशाएँ धर दबोचती हैं। एक विचारक अथवा ज्ञानी चित्रकार ने संसार को 'मधु-बिन्दु' कहा है। ठीक ही कहा है। सुख के लोभी हम अंधे एवं भयानक काल्पनिक कूप पर पेड़ की नाजुक, पतली-सी डाल को पकड़ कर खड़े है। किसलिए ? केवल एक बूँद मधु के लिए। एक बूंद मधु का सुख हमें दुःख के महाकूप में गिरा देता है।

संसार का त्याग अर्थात् घर-बार या गृहस्थ-प्रपंच तजकर जंगल में जाकर तपस्या करने से भी सुख कहाँ मिलेगा ? सुख तो दुःख की छाया है। दोनों साथ चलते हैं। असल में संसार-त्याग का अर्थ यह नहीं है कि कर्म से विमुख होकर या साधु-वेश धारण कर निष्क्रिय बनकर परोपजीवी बन जायँ, बल्कि यह है कि आसक्तियों से दूर रहकर जिम्मेदारियाँ पूरी करें।

सुख इधर-उधर, दिशा-विदिशा में या काल में नहीं है, वस्तुओं के भोग में नहीं है, त्याग में नहीं है। सुख तो केवल वर्तमान में जीने में है। वर्तमान क्षण से आगे या लंबा नहीं है।

४. एकत्व भावना

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय।
यों कबहूँ इस जीव का, साथी-सगा न कोय॥

एकत्व यानी अकेलापन, एकाकी, निरवलम्ब, निरुपाय स्थिति। बाह्य व्यवहार में व्यस्त एवं विविध प्रकार के वैभव में लिप्त मनुष्य यह भूल जाता है कि वह नितान्त एकाकी है। सांसारिक विषयों तथा सम्बन्धों में उलझा हुआ तथा सबसे सम्मान, आदर, प्रतिष्ठा पाता हुआ मनुष्य यह समझने लगता है कि वह अकेला नहीं है, उसकी सहायता में बहुत-कुछ है। प्रतिष्ठा के मद में वह औरों के लिए तरह-तरह के अनुचित कर्म भी करने लगता है और सत्ता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पत्ति बटोरता रहता है। यह **एकत्व भावना** मनुष्य के मिथ्या अभिमान को तोड़ती है और सम्यक् मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। वस्तुतः दूसरा कोई उसका हाथ बँटाने के लिए सामने नहीं आता। आध्यात्मिक दृष्टि से जीव सबसे भिन्न, अकेला ही कर्म करता है, संसार में भ्रमण करता है और अकेला ही जन्म-मरण करता है।

यह सही है कि हम संसार में एकाकी नहीं रहते। हमारे चारों ओर विभिन्न स्तर की परिस्थितियाँ रहती हैं, परिकर रहता है, साधन-सामग्री रहती है। इन सबका उपयोग भी किया जाता है। इन सबके कारण मनुष्य के अभिमान को पोषण भी मिलता है। यह पोषण ही घातक है। दूसरी ओर परिस्थितियों का मारा, असहाय एवं निरीही व्यक्ति—नितांत दयनीयता में, शून्यता में चला जाता है। यह दूसरी तरह की हीनता है। अभिमान एक प्रकार की हीनता है, दयनीयता दूसरे प्रकार की। **एकत्व भावना** का सम्यक् बोध यह है कि चाहे जैसी परिस्थिति में हम अपने स्वतंत्र अस्तित्व का मूल्य समझें। परमाणु अकेला होता है, पर उसकी शक्ति अकूत होती है। आत्मशक्ति का बोध, एकत्व के चिन्तन से होता है। ऐसा बोध होने पर मनुष्य हर परिस्थिति में अपने प्रति जागरूक एवं संसार के प्रति विनम्र रह सकता है।

एकत्व या अकेलेपन का मतलब यह भी नहीं है कि मनुष्य परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व से छिटक कर अलग पड़ जाय—स्वार्थी बन जाय। इसका सार यही है कि मनुष्य सबके साथ सहयोग करे, सबको अपनी शक्ति-सामर्थ्य भर सहयोग दे, फिर भी अपने व्यक्तित्व को परावलंबी होने से बचाये।

अन्य अन्य अवश्य है, पर अन्यों के प्रति द्वेष न रखकर, उनकी उपेक्षा, तिरस्कार या अवहेलना न करके समभावपूर्वक सहयोगात्मक भूमिका से ही मनुष्य अन्यों में निजत्व या एकत्व विकसित कर सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. अन्यत्व भावना

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय॥

यह हमने देखा कि समस्त बाह्य पदार्थ अथवा परिस्थितियाँ जीव के स्व-गुण या चेतना-शक्ति से भिन्न हैं। भ्रमवश जीव यह मानने लगता है कि यह घर मेरा है, सम्पत्ति मेरी है, माता-पिता, पुत्र-कलत्र आदि परिवार मेरा है। अरे, जब यह शरीर ही अपना नहीं है, तब और पदार्थों तथा सम्बन्धों का तो कहना ही क्या। ये तो साफ-साफ पराये हैं, पर हैं। **अन्यत्व भावना** का चिन्तन करने से मनुष्य आसक्ति, आकांक्षा एवं अहंकार से छूटकर आत्म-विश्वासी बनता है। सबके बीच रहकर भी सबके प्रति अपना कर्तव्य निभाते हुए भी वह अपने को जल में कमल की भाँति अलिप्त रखता है। कर्म करते हुए भी अकर्म बना रहता है। वह समझ लेता है कि सारे सांसारिक सम्बन्ध नाशवान हैं, उन पर किसी का कोई वश नहीं है। मात्र आत्म-अस्तित्व ही शाश्वत है। आत्मतत्त्व को सब बाह्यताओं से भिन्न एवं ज्ञानमय अनुभव करने से सम्बन्धों की आसक्ति दूर होती है और मुक्तता का अनुभव होता है।

एकत्व की पुष्टि के लिए अन्यत्व का बोध आवश्यक है। अपने को सबसे अन्य समझने की प्रक्रिया में प्रवेश करना बड़ा जटिल और कठिन कर्म है। यह मिट्टी में से सोना निकालने जैसी बात है। अपने को प्रथम या मध्यम पुरुष की भूमिका से अलग कर अपने प्रति अपनी आकांक्षाओं के प्रति भी अन्य पुरुष की भूमिका में चले जाना बड़ी ऊँची बात है। दूसरों की भाँति अपनी प्रवृत्तियों को भी दर्पण की तरह देखने लग जाना ही **अन्यत्व भावना** है।

अन्यत्व भावना एकत्व भावना की पूरक ही है। भाव यह है कि जीव अपने में अकेला या स्वतन्त्र तो है, परन्तु पदार्थों और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्धों को अपने से सर्वथा भिन्न मानने के प्रति मनुष्य सजग नहीं रहता। इसी को दृढ़ करने के लिए यह अन्यत्व भावना है। •

६. अशुचि भावना

दिपै चाम-चादर मढ़ी, हाड़-पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह॥

जिस देह को, शरीर को हम अपना समझते हैं, उसकी जितनी सार-सम्हाल करते हैं, पोषण देते हैं, शृंगार करते हैं—वह आखिर क्या है? वह तो चमड़े की चादर से मढ़ी हुई होने से चमक रही है, अन्यथा तो हड्डियों का एक ढाँचा मात्र है। ऊपर की चमड़ी उतार दें तो इसे कोई देखना भी नहीं चाहेगा। इसके भीतर जितनी घिन भरी हुई है, उतनी तो और कहीं होगी भी नहीं।

यह देह मल-मूत्र का आगार है। कृमि-समूह का भण्डार है, इसमें से भयंकर दुर्गन्ध आती है। इसका जितना संस्कार किया जाता है, जितनी सफाई की जाती है, उतनी ही यह मैली होती जाती है। इसका स्पर्श पाते ही सुगन्धित पदार्थ भी अस्पृश्य, अशुचि हो जाते हैं। बचपन, जवानी और बुढ़ापा इसके निरन्तर के साथी हैं। देह तो एक चरखे की तरह है—जब तक चलता है, चलता है। फिर धीरे-धीरे सारे अंग शिथिल हो जाते हैं। इन्द्रियाँ निस्तेज एवं अक्षम हो जाती हैं, हाथ-पाँव काँपने लगते हैं, ज्योति मन्द पड़ जाती है। बीमारी लग जाय और उठना-बैठना कठिन हो जाय तो अपने लोग भी निकट आने में कतराते हैं। यह शरीर नरक या बोझ बन जाता है। इसीलिए **अशुचि भावना** के चिन्तन की बात कही गयी है कि मनुष्य बाह्य चमक-दमक में वास्तविकता को न भूले।

सबका अनुभव है कि शरीर-शृंगार के लिए लोग हजार-हजार प्रयत्न करते हैं। वस्त्राभूषण से लदते हैं, नहाते-धोते हैं, क्रीम-पाउडर लगाते हैं, तरह-तरह की भंगिमाएँ बनाते हैं। सौन्दर्य को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतियोगिताएँ होती हैं। इन सब प्रसाधनों की चकाचौंध में मनुष्य यथार्थता को भूलकर 'स्व' से भटक जाता है, मोह में उतर जाता है। इसीसे बचाने के लिए स्व-बोध की चेतना के लिए यह अशुचि भावना है। इस भावना के चिन्तन से शौच गुण का विकास किया जा सकता है।

हाँ, आत्मा की शुचिता का स्वच्छता का अनुभव हो तो इस शरीर को भी आत्मा का मन्दिर बनाया जा सकता है। तब शरीर का बाह्य आकर्षण विलुब्ध नहीं करेगा। उसमें से आत्म-सौन्दर्य झलकने लगेगा।

शुचिता का अर्थ है पवित्रता। पवित्रता गुणों के विकास से प्रकट होती है। देह भले ही मैली हो, पर गुणों की निधि भीतर हो तो देह मन्दिर की भाँति पूज्य एवं आदरणीय बन जाती है। ऐसी देह में ही आत्म-दर्शन होता है।

७. आस्रव भावना

मोहनींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा।
कर्मचोर चहुँ ओर, सरबस लूटैं सुधि नहीं॥

आस्रव अर्थात् आने का मार्ग। जीव जो भी भले-बुरे, शुभ-अशुभ कर्म करता है वे कर्म-परमाणु करनेवाले की ओर खिंचते चले आते हैं और उनसे वह बँधता चला जाता है। ये शुभ-अशुभ या अच्छे-बुरे कर्म-परमाणु हमारी प्रवृत्ति, वृत्ति, संस्कार के अनुसार अच्छा-बुरा फल देते रहते हैं। अर्थात् जीव संसाररूपी भयानक जंगल में भटक जाता है। उसे मार्ग नहीं सूझता।

यह संसार मृग-मरीचिका ही तो है। मनुष्य अवास्तविकता को या पाप-पुण्यमय कर्मों को ही सबकुछ समझने लगता है। यह सब मोह-निद्रा का परिणाम है। मनुष्य के सारे सांसारिक सम्बन्ध मोहान्धता के ही परिणाम हैं। वह मृग की भाँति जल के लिए दौड़ता है, पर जल मिलता नहीं है, उल्टे प्यास और सताने लगती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। **आस्रव-भावना** के चिन्तन से मनुष्य को शुद्ध आत्मभाव के अनुभव की प्रेरणा मिलती है और वह मोह की निद्रा से जाग जाता है। मोह को शहद-लिपटी तलवार कहा जाता है। जीभ पर रखने से शहद का स्वाद तो मिलता हैं, पर जीभ भी कट जाती है। मोह-निद्रा में लीन जीव का ये भले-बुरे कर्म चारों ओर घूमकर सर्वस्व लूट रहे हैं—वह आत्मत्व को भूल रहा है फिर भी उसे कोई सुधि नहीं है।

आस्रव एक प्रवाह है—बाढ़ जैसा। बाढ़ मर्यादा को तोड़ देती है और प्रलय मचा देती है। गाँव के गाँव उजड़ जाते हैं। आस्रव अर्थात् कर्म-आगमन भी बाढ़ की भाँति घेर लेता है। इस बहाव में आदमी ऐसा बहता है कि बहता ही चला जाता है। जीवन में से संतुलन निकल जाता है, प्रलय आ जाता है। जीवन की नाव डूबने लगती है। यह आस्रव-भावना मोहनिद्रा से जगाती है, लुटेरे कर्मों से बचाती है और ऊँचाई पर बसने की प्रेरणा देती है। इस भावना के चिन्तन से आसक्तिपूर्ण इन्द्रिय-भोगों के अनिष्ट परिणामों का परि ज्ञान होता है और उनसे विरक्ति की भावना जागती है। कर्म के आक्रमण पर अंकुश लगाने का बोध जागता है, क्योंकि चिन्तन से ज्ञान होता है कि कर्मों का आगमन, प्रवेश या आक्रमण अनन्तकाल के लिए भटकाव पैदा करता है।

८. संवर भावना

सतगुरु देय जगाय, मोहनींद जब उपशमै।
तब कछु बनहिं उपाय, कर्मचोर आवत रुकैं॥

संवर अर्थात् संवरण, निरोध, अवरुद्ध करना, विकारों के मार्ग को बन्द करना। आस्रव के वशीभूत होकर भटकना रुक जाना संवर है। जैसे बहती हुई नाली में डाट लगा देने से पानी का बहाव रुक जाता है, वैसे ही शुभाशुभ प्रवृत्तियों के बहाव में आँख मूंदकर बहना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोक देने पर संवर उपलब्ध होता है। यह तभी संभव है जब मनुष्य मोह की—राग-द्वेष की–आसक्ति की—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों की—नींद से जाग जाता है। वास्तविकता की समझ, यथार्थ तप-संयम, निष्काम-सेवा तथा मन-वचन-काय की रागद्वेषमूलक प्रवृत्ति का अभाव ही संवर है। आत्म-जागृति का, भेद-विज्ञान का सम्यक् अभ्यास संवर है। भटकाव को तजकर आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तन करने से संवरभाव की उपलब्धि होती है। मूल बात यह है कि संसार-प्रपंच का सारा पसारा मोह का है, राग-द्वेष-मूलक कषायात्मक एवं भ्रमपूर्ण प्रवृत्तियों का है। अपने को संवृत करने का अभ्यास आत्मतत्त्व की प्रतीति में सहायक है।

संवर का अभ्यासी कुछ ऐसे उपाय करता है कि कर्मों का आगमन रुक जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह सर्वथा प्रवृत्ति-शून्य हो जाता है या निष्क्रिय बैठा रहता है। निष्क्रिय या कर्म-रहित होकर बैठना तो अप्रवृत्ति है। अप्रवृत्ति तो प्रवृत्ति से भी भयंकर होती है। साधक की प्रवृत्ति तो अनासक्तिमय होती है।

९. निर्जरा भावना

ज्ञान-दीप तप-तेल भर घर शोधै भ्रम छोर।
या विध बिन निकसै नहीं, बैठे पूरब चोर॥
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच परकार।
प्रबल पंच इन्द्रिय-विजय, धार निर्जरा सार॥

निर्जरा अर्थात् झरा देना, झाड़ देना, समाप्त कर देना, गला देना, सुखा देना। पहले के बंधे हुए कर्मों को, कर्मावरण को जला डालने को, समाप्त करने को **निर्जरा** कहा गया है। शुद्ध आत्मोपलब्धि के लिए, ज्ञान-दर्शन रूप आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए कर्म-निर्जरा आवश्यक है। पुरानी गंदगी या अशुचि को नष्ट किये बिना शुद्धि का लाभ सम्भव नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागद्वेषरूपी मल की अनन्तकालीन कर्म-काई को छुड़ाने के लिए समतापूर्वक पंच महाव्रतों का—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का—पालन तथा पाँचों इन्द्रियों पर विजय आवश्यक है। शरीर में इन्द्रियाँ द्वार के समान हैं। द्वार से शुद्ध वायु भी भीतर ली जा सकती है और अशुद्ध भी। अध्यात्म के क्षेत्र में शुभाशुभ प्रवृत्तियों को रोककर इन इन्द्रियों के द्वारा शुद्ध अकर्म भाव की वायु का सेवन मुक्ति की ओर ले जाता है। मनुष्य को इन्द्रियों के अनुसार नहीं चलना चाहिए, आत्मभाव की दृष्टि से इन्द्रियों को साधन बनाना चाहिए। इन्द्रियों को कुचलना नहीं है, उन्हें निर्बल, निस्तेज या विकलांग भी बनाने की आवश्यकता नहीं। उनकी क्षमता का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। मरियल घोड़ा सवारी को गन्तव्य स्थान पर ठीक से नहीं पहुँचा सकता। इंद्रियाँ भी हमारी शत्रु नहीं हैं। उनसे ऐसा काम लिया जाय कि वे सहायक बनें, विघातक नहीं, विकास में सहायक हों।

घर में, यानी वृत्तियों में, पैठे हुए कर्मरूपी चोरों को निकालने के लिए केवल जागना ही पर्याप्त नहीं है। ज्ञानरूपी दीपक में तप-रूपी तेल डालकर तथा भ्रम को—संशय को तोड़कर घर शोधने पर तथा वृत्तियों, विकारों का पता लगाने पर ही ये चोर—पाप-पुण्यरूपी आकर्षण—पलायन कर पाते हैं। बहने से बचो, आकर्षणों के बहाव से दूर रहो, ऊँचे रहो, श्रमदेवता की पूजा करो तो चोरों के लिए कोई आकर्षण नहीं रहेगा। खुले दरवाजों में ही स्वच्छ हवा का प्रवेश होता है।

यहाँ पाँच समितियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। समिति अर्थात् संयमपूर्ण चलना-फिरना, खाना-पिना, वस्तु का लेना-देना, बोलना-बतियाना और यहाँ तक कि मल-मूत्र के त्याग में भी सावधानी तथा विवेक बरतना। सारांश, समितियाँ हमें इन्द्रियों के सतर्क उपयोग की, अप्रमत उपयोग की प्रेरणा देती हैं। समिति अर्थात् विवेक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. लोक भावना

चौदह राजु उत्तुंग नभ, लोक पुरुष संठान ।
तामें जीव अनादि तैं, भरमत हैं बिन ज्ञान ॥

लोक यानी सृष्टि। सृष्टि का स्वरूप जानने पर ही जीव को अपनी सम्यक् स्थिति का, अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। आकाश अनन्त है। इस अनन्त आकाश में हमारी यह सृष्टि है।

सृष्टि का आकार भूगोल-विज्ञान की दृष्टि से जो भी हो, किन्तु आत्मत्व की दृष्टि से कहा गया है कि यह लोक पुरुष के संस्थान जैसा है। दोनों पैर फैलाकर तथा दोनों हाथों को कमर पर रख कर खड़े पुरुष का आकार ही लोक का आकार कहा गया है। यह बड़ी गहरी बात है। इसमें यह भाव निहित है कि सम्पूर्ण लोक—जड़-चेतन सृष्टि—पुरुष में ही व्याप्त है। जब आत्मवान् पुरुष अपनी अनन्त आत्म-शक्ति का चिन्तन करता है, तब उसे सारा लोक अपने में दिखाई देने लगता है। अपने में संपूर्ण लोक का दर्शन करने वाला ही आत्मवान् होता है, परमात्मा होता है और लोकातीत होता है। लोक में रहकर भी वह लोक से परे होता है। आत्मचेतना से विहीन जड़ अभीप्साओं से लिप्त मनुष्य ही भौतिक लोक के वशीभूत रहता है और उसमें भ्रमण करता रहता है। आत्म-शक्ति जड़ लोक से अनन्त गुनी होती है और **लोक-भावना** का चिन्तन मनुष्य में इसकी अनुभूति की प्रतीति कराता है।

लोकातीत अर्थात् सांसारिक जड़ता से ऊपर उठकर ही मनुष्य अपने में लोकोत्तर बनने की क्षमता उत्पन्न करता है। लोक का पुरुषाकार स्वरूप मनुष्य में लोक के प्रति आत्मीय भाव जगाता है और यह भी कि यह विराट् सृष्टि उसकी शक्ति का साकार रूप है। यह भावना लोक को अपने में और अपने को लोक में अनुभव करने में सहायक है। इससे समस्त जीवों में ईश्वरत्व का दर्शन करने की उदारवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी को विराट दर्शन कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११. बोधि-दुर्लभ भावना

धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥

अपने को लोकातीत या लोकोत्तर बनाने के लिए यथार्थ ज्ञान अर्थात् अपनी अनन्त शक्ति का ज्ञान अत्यावश्यक है। लोक की विविध विद्याओं का ज्ञान तो निरन्तर मिलता ही रहता है। बड़े-बड़े विद्यापीठ भी ज्ञान के केन्द्र हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी ज्ञान से ही मिलती हैं। मनुष्य का मस्तिष्क इतना सूक्ष्म, गहन एवं व्यापक है कि उसमें सारे संसार के पुस्तकालयों का ज्ञान समा सकता है। लेकिन यहाँ बोधि की बात है। बोधि यानी आत्म-प्रत्यय, आत्म-साक्षात्कार। यही दुर्लभ है। धन-सम्पत्ति, सोना-चाँदी, राज-वैभव, पद-प्रतिष्ठा, रूप-सौन्दर्य तो सर्वत्र सुलभ है। किन्तु ये सब अनित्य हैं, नश्वर हैं, चंचल हैं। सम्यग्ज्ञान—यथार्थ ज्ञान तो अपने को अर्थात् अपने सहज स्वभाव को, अपनी स्थिति को, अपने अस्तित्व के महत्त्व को पहचानना ही है। यह जानने के बाद और कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रह जाता। ऐसा ज्ञान जिसे हो जाता है, वह जगतपति बन जाता है। वह अपने ज्ञान-नेत्रों से जगत् के नाटक का अवलोकन करता है। आत्मज्ञान से रहित विद्याधर—विविध विद्याओं में निष्णात—तो घने अन्धकार में ही भटकते रहते हैं। सबका अनुभव है कि हजारों सुविधाओं और साधनों के होते हुए भी लोग विवश, निरीह रहते हैं।

आत्मज्ञान की उपलब्धि मानव-पर्याय में ही सम्भव है। यह मानव-पर्याय अति दुर्लभ है। समुद्र में फेंके रत्न की प्राप्ति जैसे महाकठिन है, वैसे ही यदि मानव-पर्याय में आत्मज्ञान नहीं मिला और यह पर्याय जड़ता-बाह्यता या अनित्य के संग्रह में ही बीत गयी, तो अनन्त काल तक लोक-समुद्र में गोता लगाते रहना पड़ता है। इसीलिए आत्मज्ञान को सर्वोपरि रत्न कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. धर्म भावना

जाचै सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन जाचै बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन॥

ऊपर वर्णित ग्यारह भावनाओं के अभ्यास एवं चिन्तन के फल-स्वरूप मनुष्य की आत्मा में धर्म का प्रादुर्भाव होता है। वस्तु के स्वभाव का नाम ही धर्म है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय हैं। धर्म की यों तो अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। जो आत्मवान् पुरुष संसार की अनित्यता, अशरणता, अशुचिता, अन्यत्वता आदि को जान लेता है, जो यथार्थ ज्ञानराशि से समृद्ध हो रहा हैं और लोक को अपने में निहार रहा है, वह धर्ममय हो जाता है। वह जीवित धर्म बन जाता है। उसके रोम-रोम से सर्वभूतों के प्रति क्षमा, मृदुता, सरलता, अलुब्धता, समता का अमृतरस झरने लगता है। यही उसका तप हैं, यही उसका त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य है। वह ज्ञान-समृद्ध होकर भी जगत् में आकिंचन्यपूर्वक ब्रह्म में चर्या करता है। उसके लिए कोई पराया नहीं रह जाता। सम्पूर्ण लोक अपनी जगह रह जाता हैं और वह द्रष्टा होकर सबको आत्मवत् अनुभव करने लगता है। उसका कर्म ही अकर्म बन जाता है और काया ही चराचर जगत् का क्रीड़ाक्षेत्र बन जाता है। वह धर्ममय बन जाता है। धर्म की कोई मूर्ति या आकार नहीं होता। ऐसा पुरुष स्वयं ही धर्म होता है। धर्ममय होने का अर्थ है लोक की गति का ज्ञाता बनना। जिसने सृष्टि की गति को जान लिया उसने अपनी गति भी जान ली और गति का ज्ञाता ही अगतिक बनता है।

कल्पवृक्ष तो याचना करने पर सुख की सामग्री देते हैं, लेकिन धर्म तो ऐसा कल्पवृक्ष है कि बिना याचना के ही सारा सुख प्राप्त हो जाता है। सर्वस्व का विसर्जन ही सर्वस्व के विशेष सर्जन का मूलस्रोत है। यही मोक्ष है और यही मोक्ष का मार्ग है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरी भावना

[रचयिता : पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर']

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो॥ १

विषयों की आशा नहिं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं।
निज-पर के हित-साधन में जो, निशदिन तत्पर रहते हैं॥
स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दुःख समूह को हरते हैं॥ २

रहे सदा सत्संग उन्हीं का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे।
उन ही जैसी चर्या में, यह चित्त सदा अनुरक्त रहे॥
नहीं सताऊँ किसी जीव को, झूठ कभी नहीं कहा करूँ।
परधन वनिता[1] पर न लुभाऊँ, सन्तोषामृत पिया करूँ॥ ३

अहंकार का भाव न रक्खूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या-भाव करूँ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल-सत्य व्यवहार करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूँ॥ ४

मैत्रीभाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन-दुःखी जीवों पर, मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे॥
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझ को आवे।
साम्यभाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे॥ ५

---

१. स्त्रियाँ 'वनिता' की जगह 'परनर' पढ़ें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, कर के यह मन सुख पावे॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे॥ ६

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ, या मृत्यु आज ही आ जावे॥
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे।
तो भी न्यायमार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे॥ ७

होकर सुख में मग्न न फूले, दुःख में कभी न घबरावे।
पर्वत नदी श्मशान भयानक, अटवी से नहिं भय खावे॥
रहे अडोल - अकम्प निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे।
इष्ट - वियोग अनिष्ट - योग में, सहनशीलता दिखलावे॥ ८

सुखी रहें सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे।
वैर-पाप अभिमान छोड़, जग नित्य नये मंगल गावे॥
घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावें।
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना, मनुजजन्म-फल सब पावें॥ ९

ईति भीति व्यापे नहिं जग में, वृष्टि समय पर हुआ करे।
धर्मनिष्ठ हो कर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करें॥
रोग - मरी - दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा-धर्म जगत में, फैल सर्वहित किया करे॥ १०

फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर ही रहा करे।
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द, नहिं कोई मुख से कहा करें॥
बन कर सब 'युगवीर' हृदय से, देशोन्नतिरत रहा करें।
वस्तुस्वरूप विचार खुशी से, सब दुःख-संकट सहा करें॥ ११

श्यामिका प्रिंटिंग प्रेस, नईबस्ती पाण्डेपुर वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi